सीज़र, माताहारी और मिर्ज़ा

मुश्ताक़ अहमद युसुफ़ी

(यह एक हास्य रेखाचित्र है जिसका मुख्य पात्र 'सीज़र' है जो लेखक का अल्सेशियन कुत्ता है। यह रेखाचित्र मुश्ताक़ अहमद यूसुफ़ी की पुस्तक मेरे 'ख़ाकम बदहन' (मेरे मुँह में ख़ाक) में शामिल है और यह लेखक के अत्यंत लोकप्रिय और सुन्दरतम रेखाचित्रों में से एक है। इस रेखाचित्र में माताहारी (कुतिया), मिर्ज़ा अब्दुल वदूद बेग और प्रोफ़ेसर क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस एम.ए. बी.टी. गोल्डमेडलिस्ट के लघु रेखाचित्र भी हैं। अन्तिमोल्लिखित दो पात्र यूसुफ़ी की लगभग सभी रचनाओं में मौजूद होते हैं, जिन्हें वे क्रमशः 'मिर्ज़ा' और 'प्रोफ़ेसर' कहते हैं। ये किरदार लेखक के मित्र या हमज़ाद (छायापुरुष) हैं। ये अपने ऊटपटांग विचारों और विचित्र दलीलों के लिए जाने जाते हैं। यूसुफ़ी अपनी अकथनीय, उत्तेजक और गुस्ताख़ाना बातें मिर्ज़ा और प्रोफ़ेसर की ज़ुबान से कहलवाते हैं। ये किरदार हमें मुल्ला नसरुद्दीन की याद दिलाते हैं।

बात से बात निकालना, लेखनी के हाथों में खुद को सौंपकर मानो केले के छिलके पर फिसलते जाना अर्थात विषयांतर, हास्यास्पद परिस्थितियों का निर्माण, अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन, किरदारों की सनक और विचित्र तर्कशैली, एक ही वाक्य में असंगत शब्दों का जमावड़ा, शब्द-क्रीड़ा, अनुप्रास अलंकार, हास्यास्पद उपमाएं व रूपक, अप्रत्याशित मोड़, कविता की पंक्तियों का उद्धरण, पैरोडी और मज़ाक़ की फुलझड़ियों व हास्य रस की फुहारों के बीच साहित्यिक संकेत व दार्शनिक टिप्पणियाँ, और प्रखर बुद्धिमत्ता यूसुफ़ी साहब की रचना शैली की विशेषताएँ हैं। उनके फ़ुटनोट भी बहुत दिलचस्प होते हैं। इस निबंध में यूसुफ़ी साहब की रचना शैली की अनेक विशेषताएँ विद्यमान हैं।-----अनुवादक)

***

"हाय अल्लाह! यह हाथी है कि कुत्ता! काहे को ले आये?"

"चौकीदारी के लिये।"

"किसकी?"

"घर की।"

"इस घर की?"

"हाँ! बहुत होशियार कुत्ता है। घर में कुछ न हो, तब भी चौकीदारी कर सकता है।"

इस दाम्पत्य-संवाद से बाद में यह फ़ायदा ज़रुर हुआ कि वेतन मिलते ही हमने घर-गृहस्थी का ज़रूरी सामान ख़रीद डाला ताकि कुत्ता उसकी चौकीदारी कर सके। लेकिन माता-पिता की समझ में आने वाला जो फ़ौरी फ़ायदा हमने उस समय बयान किया उससे अपने मासूम बच्चों को जानबूझकर वंचित रखने के लिए पत्थर का कलेजा चाहिए। वह फ़ायदा यह था कि आख़िर को यह एक अंग्रेज़ का कुत्ता था, और यह कौन नहीं जानता कि हमारे यहाँ अनपढ़-से-अनपढ़ आदमी भी अपने कुत्ते का नाम अंग्रेज़ी में रखता है और अंग्रेज़ी ही में

उससे बातचीत और डाँट-डपट करता है। इसलिए हमने इशारतन ध्यान दिलाया कि इसकी वजह से बच्चों को अंग्रेज़ी बोलना आ जाएगी।

यह सुनते ही बेगम ने कुत्ते के सिर पर हाथ फेरा और ज़ंजीर ऐसे निर्णायक झटके के साथ हमारे हाथ से छीन ली, जैसे लेडी मैकबेथ ने मैकबेथ के हाथ से ख़ंजर छीना थाः

Infirm of Purpose
Give me the Dagger

ख़ुदा उन्हें ख़ुश रखे! इस ड्रॉप-सीन से कोई बीस साल उधर जब यह नाचीज़ जवान बल्कि नौजवान था, इसने नीली आँखों, भरी-भरी टाँगों और "ब्लॉन्ड" बालों वाली मेम को बाग़ों में अपने जेबी साइज़ के 'पोमेरेनियन' कुत्ते को भींच-भींचकर प्यार करते देखा था। था भी ज़ालिम इसी लायक़। गोल-मटोल। झबरा। रूई जैसे सफ़ेद बालों से सारा शरीर इस बुरी तरह ढँका हुआ था कि जब तक चलना न शुरू करे, यह बताना मुश्किल था कि मुँह किस तरफ़ है। हाय! वह भी क्या ज़माना था जब हर चीज़ जवान थी। हर चीज़ हसीन थी। हर चीज़ पे टूट के प्यार आता था। कैसे महकते-दहकते दिन थे वो भी—— *'मेरी साँस में है गरमी कि यह लू सी चल रही है।'*

अच्छी तरह याद है कि उस दिन इन पापी आँखों को ज़ंजीर के दोनों सिरों पर सुन्दरता दिखाई दी और दिल में यह प्यार भरी कामना करवटें लेने लगी कि अंग्रेज़ की ग़ुलामी से आज़ाद होने के बाद कभी फ़ुरसत और कुंज का कोई कोना नसीब हुआ तो एक नीली आँखों, भरी-भरी टाँगों और 'ब्लॉन्ड' बालों वाला कुत्ता ज़रूर पालेंगे। मगर एक तो बक़ौल मिर्ज़ा ऊँची नस्ल के कुत्ते हाथी के मोल मिलते हैं। दूसरे, उस ज़माने में मकान इतना तंग था कि जानवर का तंदुरुस्त रहना नामुमकिन। वह तो ख़ुदा भला करे मिस्टर एस. के. डीन (शेख़ ख़ैरूद्दीन) एम. ए. (आक्सन) का, जो हमारे शौक़ की आग को हवा देते रहे। ये हमारे दूर-परे के प्रिय पड़ोसी थे। इनके पास एक बड़ा अनूठा कुत्ता था। शुद्ध 'ग्रे-हाउंड', जिसे वे पड़ोसियों का ख़ून पिला-पिलाकर पाल रहे थे। विशाल जबड़ा था उसका। शरीर ततैये जैसा और स्वभाव भी वैसा ही। यूँ तो भौंकने की सभी पारम्परिक विधाओं में सिद्ध-मुख था, लेकिन चाँदनी छिटकी हो और मौज में हो, तो फिर कुछ ऐसी 'ओरिजनल' शैली अपनाता कि जितनी बार भौंकता, तबियत को हर बार एक नई कोफ़्त होती। देखा गया है कि ऐसे-वैसे शौक़िया भौंकने वाले कुत्तों का साँस तो दो-चार दफ़ा ही ट्याऊँ-ट्याऊँ करने में उखड़ जाता है। मगर यह कुत्ता बक़ौल मिर्ज़ा, उर्दू में भौंकता था, यानी भौंकता ही चला जाता था। कहने वाले कहते थे कि मिस्टर एस.के.डीन अपने निजी बुज़ुर्गों को अपने योग्य नहीं समझते। मगर अपने शुद्ध कुत्ते की वंशावली पंद्रहवीं पीढ़ी तक फ़र-फ़र सुनाते और उसके पूर्वजों पर इस तरह गर्व करते, जैसे उनका शुद्ध रक्त उनकी तुच्छ रगों में दौड़ रहा है। कहते थे "स्वेज़ नहर के इस तरफ़ ऐसा ख़ालिस (शुद्ध) व खूँख़्वार कुत्ता ढूँढे से नहीं मिलेगा। इसका दादा पंद्रह जून 1941 को पांडिचेरी में देसी कुत्तों से लड़ता हुआ मारा गया। चाँदनी रात। चारों ओर सन्नाटा। चौराहे पर घमसान का रण पड़ा। कुत्तों के पुश्ते लग गए थे।" मोहल्ले में मशहूर था कि मिस्टर डीन के यहाँ कोई घबराया-घबराया फ़ायर ब्रिगेड को फ़ोन करने भी चला जाए तो उसे अपने स्वर्गीय कुत्तों के अल्बम दिखाए बिना फ़ोन

को हाथ नहीं लगाने देते। ड्राइंग रूम में मिस्टर डीन की एक बड़ी सी तस्वीर भी टंगी थी, जो उन्होंने अपने कुत्ते के जीते हुए कप और ट्राफ़ियों के साथ खड़े होकर और उसके तमग़े कोट पर लगाकर खिंचवाई थी। हमारी पुरानी लालसा और लगाव के पेशेनज़र एक दिन एकांत में हमें अपने टेप-रिकॉर्डर पर वर्तमान कुत्ते के स्वर्गीय पिताश्री का भौंकना सुनाया। सुनकर स्वयं सजल-नयन हो गए और हमें भी उनकी दशा देखकर रोना आ गया।

कुत्ता पालने की उत्कंठा की चर्चा हमने बार-बार मिर्ज़ा के सामने की, मगर वे कुत्ते का नाम आते ही काटने को दौड़ते हैं। कहते हैं "हटाओ भी! वाहियात जानवर है। बिल्कुल बेकार। कुत्ते के जन्म का एकमात्र प्रयोजन यह था कि पतरस[1] उसपर एक लाजवाब निबंध लिखे। सो यह प्रयोजन अरसा हुआ, पूरा हो चुका और अब इस प्रजाति को ज़िन्दा रहने का कोई हक़ नहीं।" वे तो यहाँ तक कहते हैं कि "यह प्रजाति लुप्त हो भी गयी तो उर्दू व्यंग्य-लेखकों से नाम चलता रहेगा।" यूँ तो सभी जानवरों के बारे में मिर्ज़ा की मालूमात मूढ़ता की हद तक अधूरी हैं (मसलन अभी कल शाम तक वे लोमड़ी को गीदड़ की मादा समझे बैठे थे और —— ग़ज़ब खुदा का —— बड़े चींटे को आम चींटी का नर!) मगर कुत्तों के साथ वे विशेष रूप से पूर्वाग्रह से काम लेते हैं और अपनी बात के पक्ष में एक से एक दलील पेश करते हैं। मिसाल के तौर पर एक दिन कहने लगे:

"जिस घर में कुत्ता हो उस घर में चोर ही नहीं रहमत के फ़रिश्ते भी प्रवेश नहीं कर सकते।"

"चोर का प्रवेश न करना तो समझ में आता है, मगर रहमत के फ़रिश्तों को क्या डर है?"

"इसलिए कि कुत्ता नापाक होता है।"

"मगर कुत्ते को साफ़-सुथरा भी तो रखा जा सकता है। अंग्रेज़ों को देखिये सुबह-शाम नहलाते हैं।"

"उपले को अगर सुबह-शाम साबुन से धोया जाए तो क्या वह पाक हो जाएगा?"

"मगर सवाल यह है कि कुत्ता नापाक कैसे हुआ?"

"कटबहसी कोई तुम से सीखे। अल्लाह बख़्शे, स्वर्गीया नानी जान कहा करती थीं कि कुत्ते के मुँह में सूअर की लार होती है।"

"लीजिये। आपने नापाकी की एक अछूती दलील खोज ली।"

"भाई मेरे! एक मोटी सी पहचान आज तुम्हें बताये देता हूँ। याद रखो, हर वह जानवर जिसे मुसलमान खा सकते हैं, पाक है।"

"इस लिहाज़ से मुसलमान मुल्कों में बकरों को अपनी पवित्रता व शुचिता के सबब अच्छा-ख़ासा नुक़सान पहुँचा है।"

"बकने वाले बका करें। मुसलमानों ने कुत्ते को हमेशा कुत्ता ही कहा। बड़े आदमियों के नाम से नहीं पुकारा।"

"बड़े आदमियों वाली बात बेहद हास्यास्पद है। आपने सुना नहीं कि नस्ली तौर पर सब कुत्ते एक ज़माने में भेड़िये थे? आदमी की संगत में उनका भेड़ियापन जाता रहा। मगर खुद आदमी ——।"

---

[1] *पतरस बुख़ारी: (1898-1958) उर्दू के महान हास्य-लेखक, जिन्होंने कुत्तों पर एक ज़बरदस्त हास्य लेख लिखा है।(अनु.)*

"देखो, तुम फिर लिटरेचर बोलने लगे। इल्मों बस करीं ओ यार!"

इस विशेष मामले में मिर्ज़ा के प्रजातीय-पूर्वाग्रह की जड़ें उनके श्वान-दंशित बचपन तक पहुँचती हैं। इसलिए हमने ख़ामख़ाह उनसे उलझना उचित न समझा और चुप-चाप कुत्ता रखने की इच्छा को पालते रहे। यहाँ तक कि वह दिन आ गया, जब हमारा अंग्रेज़ अधिकारी भारी दिल और उससे अधिक भारी क़दमों के साथ अपने वतन की ओर रवाना हुआ। और रवानगी से पहले उस दिली लगाव के आधार पर जो हमको उससे और उसको अपने कुत्ते से था, कहाः

"तुम चाहो, तो मेरा कुत्ता बतौर यादगार रख सकते हो। इम्पोर्टेड अल्सेशियन है। तेरह माह का। 'सीज़र' कहकर पुकारो तो दुम हिलाता है।"

आप अनुमान नहीं कर सकते, इस विशेष निमंत्रण में एक दुर्बल हृदय वाले आदमी के लिए प्रलोभन के क्या-क्या सामान छिपे थे। इसमें बिल्कुल संदेह न था कि इससे बेहतर कोई यादगार नहीं हो सकती कि जब कुत्ता भौंकेगा, अधिकारी की याद ताज़ा हो जायेगी। फिर यह कि अल्सेशियन! '*कभी हम उसको कभी अपने घर को देखते हैं*!' अधिकारी की छोटी सी कृपा से हमें इतनी खुशी होती है कि बक़ौल मिर्ज़ा, "अगर उस समय हमारे दुम होती तो ऐसी हिलती कि फिर कभी न थमती।"

रही सही हिचकिचाहट को शब्द "इम्पोर्टेड" ने दूर कर दिया। उस ज़माने में हर वह वस्तु जो प्रिय देश में पैदा न हुई हो, आदर व सम्मान की दृष्टि से देखी जाती थी। इसलिए हर बिगड़ा हुआ मुसलमान रईस यह साबित करने पर तुला बैठा था कि न केवल उसके कुत्ते, बल्कि उसके अपने बुज़ुर्ग भी असली इम्पोर्टेड थे और केवल एक तलवार लेकर मावराउन्नहर से हिन्दुस्तान में अवतरित हुए थे। इम्पोर्टेड कुत्ता समाज में क्या प्रतिष्ठा रखता है, इसका सरसरी सा अनुमान उन घटनाओं से लगाया जा सकता है जो दो साल पहले हमरी नज़र से गुज़र चुके थे। हमसे चार घर दूर मिस्टर ख़िलजी बैरिस्टर रहते थे। उनके स्वर्गीय पिता ने कुछ दुर्लभ कुत्ते विरासत में छोड़े थे। (छोड़ने को तो कुछ दुर्लभ पुस्तकें भी छोड़ी थीं, मगर चूँकि वे भी कुत्तों ही से सम्बंधित थीं इसलिए हमने उनका ज़िक्र जानबूझकर नहीं किया) उन्हीं में एक दोग़ली सी कुतिया थी। (जिसके बारे में उनका दम्भपूर्ण दावा था कि उसकी नानी जोज़फ़ीन का सम्बन्ध रास्पुटिन से रह चुका था, जो एक इम्पोर्टेड 'ग्रेट-डेन' कुत्ता था, और यह कि वे शिमला सिविल ऐंड मिलिट्री केनल[1] से उस श्वानीय-घटना का सर्टिफ़िकेट प्राप्त कर चुके हैं, जो उनके सोने के कमरे में आज भी आँखों को नूर, दिल को सुरूर बख़्शती है। नाम माताहारी छोड़ रखा था। किसी ज़माने में उसके लिजलिजे कान हर वक़्त लटके रहते थे। मगर उन्होंने शहर के बेहतरीन सर्जन से ऑपरेशन कराके अल्सेशियन की तरह खड़े करा लिए थे। रंग हल्का ब्राउन जैसे मीठी आँच पर सिंका हुआ तोस। बैरिस्टर साहब की ऐंग्लो-इन्डियन पत्नी (जो खुद भी बड़ी भरी-पुरी स्त्री थी और साम्राज्य की तरह हाथों-हाथ आयी थी) उस पर अपने हाथ से यूडीकोलोन छिड़ककर, मगरमच्छ की खाल का जड़ाऊ कॉलर पहनाए घुमाने ले जाती और अपने जूते से मैच करने के लिए उस पर टूथ-ब्रश से ख़िज़ाब लगा देती। कभी स्याह, कभी बोलता हुआ उन्नाबी। यह तो गरमियों की शामों का रोज़मर्रा था। जाड़े में माताहारी फ़्रेंच ब्रांडी के दो

[1] *Kennel: श्वान-गृह (ले.)*

चमचे ग़टाग़ट पीकर ईरानी क़ालीन पर अपनी मालकिन की तरह इतालवी रेशम की अंगिया की तोहमत लगाए सोते जागते पहरा देती थी। सूरत से भेड़िया और स्वभाव से भेड़। हम भेड़ इसलिए कह रहे हैं कि सुबह-शाम विलायती बिस्कुट और डिब्बे का गोश्त खाते रहने के बावजूद (या शायद इसी वजह से) बक़रीद की रात को मोहल्ले के क़साई के साथ भाग गयी और तीन रात बाद मटकती-मटकाती लौटी भी तो इस तनतने से कि एक दर्जन संगी-साथी अनुचरी में। चाल जैसे क़ुर्रतुलऐन हैदर की कहानी —— पीछे मुड़-मुड़कर देखती हुई। मिलनसारी के गली-गली चर्चे, मगर बुद्धि नाम को नहीं थी। बक़ौल मिर्ज़ा बिल्कुल गधी थी। उन्हीं का कहना है कि अक्सर बाज़ारी कुत्तियों के पिल्ले आकर चुसुर-चुसुर उसके दूध की आख़िरी बूँद तक पी जाते और अपने बच्चे दुम हिलाते या प्लास्टिक की हड्डियाँ चिचोड़ते रह जाते। मगर ईमान की बात यह है चौकीदारी के लिए बिल्कुल बुरी न थी कि अपनी इज़्ज़त-आबरू के अलावा हर चीज़ की बखूबी सुरक्षा कर सकती थी। इसके ये लच्छन देखे तो बैरिस्टर साहब ने उसकी रखवाली के लिए एक चौकीदार रखा। उसी साल गरमियों की छुट्टियों में वे अपने कुनबे और कुतिया समेत कार से 'मरी' जाने लगे तो उनके पूज्य नानाश्री ने अच्छा-ख़ासा हंगामा खड़ा कर दिया। बस अड़ गए कि "मैं इस 'नापाक कुत्ती' के साथ कार में सफ़र नहीं कर सकता।" इसलिए बैरिस्टर साहब उनको हमारे यहाँ छोड़ गए। जितने दिन यह महाशय हमारे यहाँ मेहमान रहे, इशा (रात) की नमाज़ के बाद हाथ फैला-फैलाकर ख़ुदा से दुआ माँगते कि "परवरदिगार! मालज़ादी (रंडी) माताहारी को सालाना ज़चगी (प्रसव) में अपनी करतूतों की सज़ा मिले। कुतिया कहीं की!" हर रंग, हर साइज़ की गाली उनकी रोज़मर्रा की गुफ़्तगू में नगीने की तरह जड़ी होती। दिनभर नमाज़ की चौकी पर बैठे सबको उनकी हैसियत के मुताबिक़ छोटी-बड़ी गालियाँ देते रहते। दुआ में भी बेधड़क यही रंग रहता। मिर्ज़ा का विचार था कि "अगर वे अपने दिल पर ज़बरदस्ती करके दुआ में से गालियाँ निकाल देते तो सारा असर जाता रहता। जो दुआ दिल से न निकले कैसे क़ुबूल हो सकती है?" दुआ के वक़्त के अतिरिक्त हर आये गए के सामने अपने नाफ़रमान नाती के पक्षपाती सलूक की शिकायतों का पुलिंदा खोल देते। उनकी सारी शिकायतों का लुब्बे-लुबाब बस यह था कि "मेरे साथ कुत्ते जैसा सलूक क्यों नहीं किया जाता! आख़िर मैं भी जानदार हूँ।"

इम्पोर्टेड कुत्ते की छैल-छबीली नातिन का यह स्वादिष्ट उपाख्यान सुनाने का उद्देश्य यह है कि शब्द "इम्पोर्टेड" ने अंग्रेज़ अधिकारी के मुँह से निकलते ही हमारी आत्मरक्षा की दीवार को, जो कभी भी बहुत बुलंद और पुख़्ता न थी, पूरी तरह से ढा दिया। भला ऐसे सभ्य कुत्ते रोज़-रोज़ कहाँ मिलते हैं? आख़िरकार फ़िज़ूल के शौक़ ने हमारे स्वाभाविक भय पर विजय प्राप्त की और जहाज़ का लंगर उठने से पहले हमने अपने आपको एक ख़ुशनसीब कुत्ते का मालिक पाया।

लेकिन एक बात के लिए हम भी मानसिक बल्कि शारीरिक तौर पर तैयार न थे। "तेरह माह" की उम्र सुनकर हमारी कल्पना में एक बहुत ही भोली-भाली सूरत उभरी थी। हमने सोचा, जैसे तेरह महीने का आदमी का बच्चा बड़ा प्यारा सा होता है। थन-मथना, गुदगुदा सा, किलकारी मारता हुआ। वैसा ही यह भी होगा। सच तो यह है कि बच्चा किसी का भी हो बड़ा "स्वीट" लगता है। फिर यह तो अल्सेशियन का बच्चा ठहरा।

जी हाँ बच्चा! दरअसल हम पर इसके "इम्पोर्टेड" होने का ऐसा रौब छाया हुआ था कि पिल्ला कहते हुए खुद शर्म महसूस होती थी।

मगर सीज़र हर तरह से हमारी उम्मीदों से बढ़कर निकला। उसका सरापा खींचकर हम पाठकों का समय बरबाद नहीं करना चाहते। उसके डील-डौल का सरसरी सा अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि हमारे घनिष्ट मित्र प्रोफ़ेसर क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस की समूची रान उसके मुँह में आ जाती थी।

और यह प्रोफ़ेसर महोदय ही ने बताया:"अरे खुदा के बन्दे! तुमने भी बड़ा ग़ज़ब किया! तेरह महीने का अल्सेशियन तो पूरा पाठा कुत्ता होता है। किताबों में लिखा है कि तीन महीने से ज़्यादा का अल्सेशियन नहीं लेना चाहिए।"

इसपर मिर्ज़ा ने यह नमक छिड़का कि "आँखों देखी बात है, कुत्ते की तंदुरुस्ती और नस्ल अगर मालिक से बेहतर हो तो वह आँखें मिलाकर डाँट भी नहीं सकता। फिर यह तो ग़ैर-मामूली तौर पर खूँख़ार भी नज़र आता है।"

हमने कहा, "मिर्ज़ा! तुम ख़ामख़ाह डरते हो।"

बोले, "जो आदमी कुत्ते से भी न डरे, मुझे उसकी वल्दियत में शुबहा है।"

हमने कहा "मिर्ज़ा! कुत्ता अगर खूँख़ार न हो तो पालने से फ़ायदा? फिर आदमी बकरी क्यों न पाल ले।"

बोले, "हाँ! बकरी कुत्ते से बहुत बेहतर है। बड़ी बात यह है कि जब चाहो, काटकर खा जाओ।

गरचे छोटी है ज़ात बकरी की
दिल को भाती है बात बकरी की"

बहसा-बहसी में हम दोनों पटरी से उतर गए थे। लिहाज़ा क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस ने मध्यस्थ की भूमिका में बीच में पड़के इस संतुलित राय पर बहस ख़त्म की कि "कुत्ते में से अगर जबड़ा निकाल दिया जाए तो बहुत माक़ूल और वफ़ादार जानवर है।"

क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस ने कुछ ग़लत नहीं कहा था कि बड़ा कुत्ता बड़ी मुश्किल से सधाया जाता है। फिर नया घर, नए चेहरे, नयी बू-बास। नतीजा यह कि पहली रात खुद सोया न दूसरों को सोने दिया। रात भर एक साँस में मुँह-ज़बानी भौंकता रहा। दूसरी रात भी वहशत का यही हाल रहा। अलबत्ता चौबीस घंटे के प्रशिक्षण से इतना अंतर ज़रूर पड़ा कि फ़जिर (भोर) की नमाज़ के वक़्त परिवार के जिन सदस्यों की आँख लग गयी थी, उनके मुँह चाट-चाटकर गहरी नींद से जगाया। तीसरे रतजगे से पहले हमने उसे एक सोने की गोली दी — कोई फ़ायदा न हुआ। चौथी रात दो दीं, मगर साहब! क्या मजाल, जो ज़रा चुपका हो जाए। तंग आकर मिर्ज़ा से मशवरा किया तो कहने लगे, "मेरी मानो, आज उसे कुछ न दो। खुद तीन गोलियाँ खा लो।" हमने ऐसा ही किया। उस रात वह बिल्कुल नहीं भौंका!

लेकिन आश्चर्य इस बात पर हुआ कि सुबह दस बजे हमारे बहरे पड़ोसी ख़्वाजा शमसुद्दीन (इम्पोर्टर ऐंड एक्स्पोर्टर) ने, जो नए-नए पड़ोस में आये थे, हमें बड़ी बदतमीज़ी से झिंझोड़कर जगाया और शिकायत की

कि "रात भी आपका कुत्ता मेरे घर की तरफ़ मुँह करके ख़ूब भौंका और (हियरिंग-एड यानी सुनने की मशीन अपने कान में फ़िट करते हुए) और देख लीजिये, इस वक़्त भी बहुत जी लगाके भौंक रहा है!" हमने कहा, "आपका रेडियो भी तो सारे-सारे दिन मोहल्ले को सिर पर उठाये रखता है। ख़ुदा गवाह है जिस दिन से आप पड़ोस में उठकर आये हैं, हमने अपना रेडियो प्रोग्राम सुनना बंद कर दिया है। फिर यह कि हमारे पास तो कुत्ते का लाइसेंस भी है।" लाइसेंस का नाम आते ही उनके चेहरे का रंग स्याह से बैंगनी हो गया। जिसके नतीजे में वे और उनका रेडियो तीन हफ़्ते तक ख़ामोश रहे। अलबत्ता उनके चौकीदार की ज़बानी मालूम हुआ कि वे रातों को उठ-उठके अपनी हियरिंग-एड कान से लगाकर सुनते हैं कि हमारा कुत्ता भौंक रहा है या सो गया। हमारे कानों में यह भनक भी पड़ी कि अब वे हर एक से यह कहते फिर रहे हैं कि कुछ क़र्ज़ख़ोर अपने क़र्ज़दाताओं से बचने के लिए कुत्ते पाल लेते हैं। वे यह कहते भी सुने गए कि सीज़र कुलीनों का कुत्ता मालूम नहीं होता। उधर उनकी बीवी की बदगुमानी का यह हाल था कि सीज़र झूठों भी दवाज़े में से झाँक ले तो झट हाथ भर का घूँघट निकाल लेती थीं।

तीन हफ़्ते बाद देखा कि फिर मुँह फुलाए इस शोक-भवन की ओर चले आ रहे हैं। हमारे पुरजोश "अस्सलाम अलैकुम" के जवाब में फ़रमाया,

"देखिये इस सूअर के बच्चे ने क्या किया है?"

मिर्ज़ा बीच में बोल उठे, "मुँह संभालकर बात कीजिये। वह कुत्ते का बच्चा है।"

इस आपत्तिजनक हमले के बाद हम भी कुछ सख़्त बात कहने वाले थे कि मिर्ज़ा ने जो उस समय हमसे "लूडो" खेल रहे थे, हमारे कोहनी मारकर अपनी छज्जेदार भौहों की जुंबिश से ख़्वाजा शमसुद्दीन की बाईं टांग की तरफ़ संकेत किया जो घुटने तक पांयचे से मुक्त थी। हमने कनखियों से देखा तो घाव वाक़ई इतना लंबा था कि ज़िप लगाकर आसानी से बंद किया जा सकता था। शर्मिंदगी और इंसानी हमदर्दी की भावना से ओत-प्रोत होकर हमने पूछाः

"क्या कुत्ते ने काटा है?"

"जी नहीं! हमने ख़ुद ही काटा है!"

"अरे साहब! घोड़े भी कुछ कम ज़ालिम नहीं होते।" मिर्ज़ा फिर बोल उठे।

मिर्ज़ा का यह उपहासपूर्ण वार ऐसा अचानक और कारी था कि वहीं ढेर हो गए। एक पल के लिए अपना शारीरिक घाव भूल गए और अंदरूनी चोटों को सहलाते और घोड़ों की माँ-बहनों को लालसा भरी गालियाँ देते "फ़ेड-आउट" हो गए। क़िस्सा दरअसल यह था कि उनके पूर्वज ख़ैबर पार से घोड़े बेचने हिन्दुस्तान आये थे और मालामाल होकर यहीं पड़ रहे। आगे चलकर इन पूर्वजों की सन्तानों को इन्ही घोड़ों की कपूत संतानों ने तबाह कर डाला। वह इस तरह कि इस वंश के अंतिम कुलदीपक ख़्वाजा शमसुद्दीन की "ब्लैक" की कमाई की एक-एक पाई रेस में इन्ही घोड़ों की भेंट चढ़ती और उनके अपने बाल-बच्चे इनकम टैक्स वालों की तरह मुँह देखते रह जाते।

इस प्रकार की दिल-लगी को नज़र अंदाज़ करदें तो सीज़र कौमार्य अवस्था से ही परले दर्जे का काहिल था और दौड़-दौड़कर काम करने के बजाय दिन के अधिकतर हिस्से में दरवाज़े पर मेहराब की शक्ल में छाई हुई बोगनविलिया[1] की छाँव में लोटें लगाता रहता। दर्ज़ी की सूई यूँ तो हर तरह के कपड़े में से निकलती है, मगर ईमान की बात है, हमने सीज़र को कभी किसी ग़लत आदमी को काटते नहीं देखा और यह कहना तो सरासर ग़लत-बयानी और मिथ्यारोपण होगा कि वह बिल्कुल जंगली या बेकहा था। सधा-सधाया ज़रूर था मगर सिर्फ़ पचास फ़ीसद। इस दुखद सार का विस्तार यह है कि अगर बच्चे आदेश देते कि जाओ, उस राहगीर के पीछे लग जाओ, तो यह मेरा शेर अपनी कर्मीगाह से निकलकर आज्ञा-पालन हेतु झपट पड़ता और उसकी टाई पकड़कर लटक जाता। लेकिन जब दूसरा आदेश मिलता कि छोड़ दो तो मजाल है जो छोड़ दे।

मिर्ज़ा को खुदा ने अत्यंत सतर्क और संदेही स्वभाव प्रदान किया है। हमें विश्वास है कि उन्हें अमृत भी पीना पड़े तो बिना उबाले नहीं पियेंगे। इसी सतर्क स्वभाव के सबब उन्होंने सीज़र के आने के बाद हमारे यहाँ आना-जाना इतना कम कर दिया कि कभी भूले-भटके आ निकलते तो हम सब उनकी ऐसी आवभगत करते, ऐसी गरमजोशी से मिलते कि उन्हें आशंका होने लगती कि हम क़र्ज़ न माँग बैठें। एक दिन हमारे संकेत पर प्रोफ़ेसर क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस मिर्ज़ा को तरह-तरह से समझाने लगे कि "कुत्ता बड़ा अनुपम जानवर है। कुत्ते के सिवा कोई जानदार पेट भरने के बाद अपने पालने वाले का शुक्र अदा नहीं करता। ग़ौर करो, दुमदार जानवरों में कुत्ता ही अकेला ऐसा जानवर है जो अपनी दुम को वफ़ादारी और संतुष्टि के इज़हार के लिए औज़ार के तौर पर इस्तेमाल करता है। वरना बाक़ी सभी गँवार जानवर तो अपनी पूँछ से सिर्फ़ मक्खियाँ उड़ाते हैं। दुंबा यह भी नहीं कर सकता। उसकी दुम सिर्फ़ खाने के काम आती है। अलबत्ता बैल की दुम से 'एक्सिलरेटर' का काम लिया जाता है। मगर तुम्हें बैलगाड़ी थोड़ी दौड़ानी है। (मिर्ज़ा की जांघ पर हाथ मारकर) हाय! एक फ़्रांसीसी लेखिका क्या खूब कह गयी है कि 'मैं आदमियों को जितने निकट से देखती हूँ, उतने ही कुत्ते अच्छे लगते हैं!' (स्वर बदलकर) कुत्तों से डरना बड़ी नादानी और बुज़दिली है। ख़ास तौर पर विलायती कुत्तों से!" फिर मिर्ज़ा का डर निकालने के लिए उन्ही के खिचड़ी सिर की क़समें खा-खाकर यक़ीन दिलाया कि "अंग्रेज़ों के कुत्तों के दाँत नक़ली होते हैं! खाने के और, काट खाने के और!" क़समों से भी बात बनती नज़र न आयी तो हमारी तरफ़ इशारा करके अपना निजी अनुभव बयान किया कि "इनकी देखा-देखी मैंने भी तीन हफ़्ते से एक दुम–टा "काकर स्पेनियल" पिल्ला पाल रखा है। (काकर स्पेनियल की मशहूर पहचान मालूम है? उसके कान उसकी टांगों से लम्बे होते हैं और टांगें इतनी छोटी कि ज़मीन तक नहीं पहुँच पातीं!) दो हफ़्ते तक तो बच्चे दिन-दिन भर उसे गोद में लिए भौंकना सिखाते रहे। मगर अब उनको उससे थोड़ा दूर ही रखता हूँ। क्योंकि जुमे को छोटे बच्चे ने खेलते-खेलते अचानक उसे काट खाया। अपने पहले दाँत से! अभी तक पिल्ले के पेंसिलिन के इंजेक्शन लग रहे हैं।"

---

[1] *बोगनविलिया: एक जल्दी बढ़ने वाली बेल जो बहुत ऊँची जाती है और जिसमें बहुत शोख़ रंग के फूल आते हैं। ख़ास तौर पर सुर्ख़। (ले.)*

प्रोफ़ेसर क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस बे-दूध की कॉफ़ी के घूँट ले लेकर यह श्वान-कथा सुना रहे थे। बैठे-बैठे सीज़र को न जाने क्या हुड़क उठी कि बोगनविलिया की ओट से उनके क़ीमा भरे समोसे पर झपटा। कॉफ़ी मुँह की मुँह में रह गयी। बदहवासी में प्याली मिर्ज़ा के सिर पर गिरी (जिससे उत्तरोल्लिखित कई जगह से चटक गया) और हमारे प्रोफ़ेसर साहब गरम पानी का ग़रारा करते हुए अपने क़द से ऊँचा फाटक फलांग गए।

मिर्ज़ा ने पूछा "कुत्ते से डर गए?"

"नहीं तो!" वे फाटक के दूसरी तरफ़ से बड़े गरिमापूर्ण लहजे में थर-थर काँपते हुए बोले।

मुमकिन है यह संवाद कुछ देर और जारी रहता, मगर संवाद के विषय ने एक ही छलांग में प्रोफ़ेसर क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस को दबोच लिया और उनकी सुडोल रान में अपने नुकीले कीले गाड़ दिए। वे मुँह फेरकर खड़े हो गए। चार-पाँच दिन पहले भी ऐसी ही गुत्थम-गुत्था हो चुकी थी कि कभी कुत्ता उनके ऊपर और कभी ——— और कभी वे कुत्ते के नीचे! लिहाज़ा हमने फिर बोगनविलिया की काँटेदार टहनी तोड़कर छड़ी बनायी और उस बदतमीज़ को सड़ाक-सड़ाक मारने को दौड़े। मगर प्रोफ़ेसर महोदय जहाँ के तहाँ हाथ जोड़कर खड़े हो गए। कहने लगे, "अल्लाह के लिए! यह न करो। अभी तो मेरे पिछले नील भी नहीं मिटे!"

जैसा कि हमारे पढ़ने वालों ने भाँप लिया होगा, कुत्ता पालना तो एक तरफ़ रहा, कुत्तों और प्रोफ़ेसर क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस के आपसी सम्बन्ध काटने और कटवाने के सफल परीक्षणों से कभी आगे नहीं बढ़े। वरना उनका जंतु-विज्ञान का ज्ञान इस हद तक पुस्तकीय अर्थात अधूरा है कि हमारे बच्चे जिस दिन बाज़ार से तोते का पहला जोड़ा ख़रीदकर लाये तो उनसे पूछा "चचा जान! इनमें नर कौन सा है और मादा कौन सी?" विद्वान प्रोफ़ेसर ने चार-पाँच मिनट तक सवाल और जोड़े को उलट-पलटकर देखा। फिर बहुत सावधानी से फ़रमाया "बेटा! यह बहुत तोता-चश्म (बेवफ़ा) जानवर होता है। अभी दो-तीन महीने और देखो। दोनों में से जो पहले अंडे देना शुरू कर दे, वही मादा होगी।" ख़ैर, यह अज्ञानता तो इंसानी-मजबूरी समझकर फिर भी माफ़ की जा सकती है क्योंकि तोता अपनी मादा को आदमी के मुक़ाबले ज़्यादा आसानी से पहचान लेता है। लेकिन एक दिन उपदेशात्मक अंदाज़ में बड़े अनुभव की बहुत बारीक बात यह बताई कि "यक़ीन मानो, कुत्ता रखने से सेहत बेहतर हो जाती है!" यह सुनना था कि मिर्ज़ा ने इतने ज़ोर का क़हक़हा लगाया कि ताल्लुक़ात में तुरंत दरार पड़ गयी जो कई दफ़ा कॉफ़ी पिलाने के बाद दूर हुई।

ताल्लुक़ात जब फिर से इस हद तक ख़ुशगवार हो गए कि अबे-तबे से गुफ़्तगू होने लगी तो मिर्ज़ा को तपाने के लिए वे फिर श्वान-स्तुति में व्यस्त हो गए। एक दिन मौज में जो आये तो ख़ुशख़बरी दी कि "चिकित्सा-विज्ञान के दृष्टिकोण से कुत्ता बहुत लाभकारी और शक्तिवर्धक जानवर है।" यह सुनकर मिर्ज़ा उन्हें मुसलमान दृष्टि से देखने लगे तो वे अपने दोनों हाथों की उंगलियों पर अपने साथ के उन बीमारों का नाम गिनवाने लगे, जिन्हें इस नस्ल ने तंदुरुस्ती की दौलत से मालामाल कर दिया था। और दूर क्यों जाएँ, ख़ुद उनको अपने बित्ता भर के पिल्ले से बेहद लाभ पहुँच रहा था।

मिर्ज़ा ने कहा "ज़रा खोल के बात करो।"

बोले, "अब तुमसे क्या पर्दा। कुत्ते को रोज़ाना गोश्त चाहिए। और यह भेद हम पर कुत्ता पालने के बाद ही खुला कि पहले हमारे घर में रोज़ाना गोश्त नहीं पकता था और हम बड़ी अज्ञानता में जीवन बसर कर रहे थे!"

उनके बनासपती जीवन पर जो ग़फ़लत का पर्दा चालीस साल से पड़ा हुआ था, उसके अचानक उठने बल्कि फटने के बाद हम अपनी आँखों से देख रहे थे कि अब वे अपने स्वास्थ्य से इस क़दर संतुष्ट हो गए थे कि एक नंबर बड़ा जूता पहनना शुरू कर दिया था।

हम तो इसको सुसंयोग ही कहेंगे कि लम्बे समय बाद प्रोफ़ेसर साहब का स्वास्थ्य सहसा ऐसा सुधरा कि हमें इर्ष्या होने लगी। इसलिए कि अब वे इस क़ाबिल हो गए थे कि महीने में तीन-चार दिन बिना दवा के रह सकते थे। मिर्ज़ा कहते थे कि "इसकी असल वजह यह है कि उन्हें अपने ख़याली पिल्ले को सुबह-शाम दो तीन मील टहलाना पड़ता है।"

ऊँची नस्ल के कुत्तों की स्वास्थ्य-वर्धक संगत से प्रोफ़ेसरों की कायापलट होना तो ग़ैर-शायराना अभिव्यक्ति है। फिर भी इसकी गवाही सारा मोहल्ला देगा कि हमारे कुछ अहसान-फ़रामोश हमसायों की गिरती हुई सेहत पर सीज़र की मौजूदगी, ख़ास तौर से उसके भौंकने का बेहद सुखद प्रभाव पड़ा। जिसका एक तुच्छ करिश्मा यह था कि इस ग़रीब की कुटिया के सामने से गुज़रते हुए लद्धड़-से-लद्धड़ पड़ोसी की चाल में एक अजीब चौकन्नापन, एक अजीब चुस्ती और लपक-झपक पैदा हो जाती थी। सीज़र मिनटों का फ़ासला लम्हों में तय करवा देता था। औरों का क्या ज़िक्र, ख़ुद ख़्वाजा शमसुद्दीन (इम्पोर्टर ऐंड एक्स्पोर्टर) जो कहने को सीज़र से ख़फ़ा थे, उसके स्वास्थ्य-लाभ से अपने को बचा न सके। सेठ साहब कमोबेश पंद्रह साल से लो-ब्लड-प्रेशर (Low Blood Pressure) के लाइलाज मरीज़ थे। इलाज-मुआलजे, टोने-टोटकों पर लाखों रूपये ख़र्च कर चुके थे। सब बेकार। और अब यह नौबत आ गयी थी कि लालची-से-लालची डॉक्टर भी उन्हें अपना स्थाई मरीज़ बनाने के लिए तैयार न था कि कहीं उन्हें रोज़-रोज़ दवाख़ाने में देखकर दूसरे मरीज़ बिदक न जाएँ कि इस डॉक्टर के हाथ में शिफ़ा (स्वास्थ्य-लाभ) नहीं। लेकिन हमारे पड़ोस में आने के तीन महीने के अन्दर-अन्दर न सिर्फ़ यह कि उनका "ब्लड प्रेशर" बढ़कर नॉर्मल हो गया बल्कि उससे भी पंद्रह-बीस दर्जे ऊपर रहने लगा।

इन घटनाओं का सम्बन्ध उस अज्ञान काल से है जब हम कुत्ता पालना खेल समझते थे। केनल-क्लब का बाक़ायदा मेम्बर बनने के बाद हमें अहसास हुआ कि सीज़र बेचारा बिल्कुल बेक़सूर था। ग़लती सरासर हमारी ही थी कि कुत्ते को अपनी संतान की तरह पाल रहे थे। यानी डाँट-डाँटकर। बड़े-बड़े विशेषज्ञों से कुत्ता पालने के शिष्टचार सीखे तो पता चला कि कुत्ते के साथ नरमी का बर्ताव ज़रूरी है। बल्कि उसके सामने बच्चों को बेदर्दी से पीटना नहीं चाहिए वरना उसका व्यक्तित्व पिचककर रह जाता है। और यहाँ यह हालत थी कि घर के हर व्यक्ति ने उस पर भौंक-भौंककर अपना गला बिठा लिया था। लेकिन जैसे-जैसे कुत्ता बड़ा हुआ, हममें भी समझ आती गयी और डाँट-फटकार का सिलसिला बंद हो गया।

सीज़र ही के दम-ख़म से आठ-नौ साल तक ऐसी बेफ़िक्री रही कि कभी ताला लगाने की ज़रुरत महसूस न हुई। उसको हमारे माल व असबाब की सुरक्षा का इस दर्जा ध्यान था कि शामत का मारा कोई कौवा या

बिल्ली रसोईघर के पास से भी गुज़र जाए तो नथुने फुलाकर इस बुरी तरह खदेड़ता कि सारे चीनी के बर्तन टूट जाते। घर की चौकीदारी और काम-काज में इस तरह हाथ बटाने के अतिरिक्त वह एक समझदार कुत्ते के दूसरे दायित्व भी निभाता रहा जिनसे साफ़ वफ़ादारी व भक्ति-भाव की सुगंध आती थी। यही नहीं कि वह नाश्ते पर हमारे लिए ताज़ा अख़बार मुँह में दबाकर लाता, बल्कि जब महीने की पहली तारीख़ को अख़बार वाला बिल लेकर आता तो उस पर भौंकता भी था। और एक मुँह में अख़बार लाने तक ही बात सीमित नहीं थी। वह तो कहिये, हमने ख़ुद दो-तीन दफ़ा सख़्ती से मना कर दिया, वरना वह तो हमारे लिए तोस भी इसी तरह ला सकता था। खाने पर दोनों वक़्त वह हमारी कोहनी से लगा बैठा रहता और हस्बेमामूल हम हर पाँच निवालों के बाद एक निवाला उसे भी डाल देते। अगर वह उसे सूँघकर छोड़ देता तो हम फ़ौरन ताड़ जाते कि हो न हो खाना बासी है।

संक्षेप में यह कि बहुत ही अक़्लमंद और ख़िदमती कुत्ता था।

वक़्त गुज़रता दिखाई नहीं देता। मगर हर चेहरे पर एक दास्तान लिख जाता है। कल की सी बात है। जब सीज़र बच्चा सा आया था तो प्रोफ़ेसर क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस जो सदा से यकरंगी के क़ायल हैं, इतवार के इतवार मोचने से अपने सिर के सफ़ेद बाल उखाड़ा करते थे। बाल वे अब भी उखाड़ते थे, मगर सिर्फ़ काले। (उन्हें ख़ुद भी अपनी उम्र का अहसास हो चला था और शायद इसी सबब अब सिर्फ़ बाल-बच्चों वाली महिलाओं पर उनका दिल आता था।) नादान बच्चों की वह पहली खेप जिसने सीज़र के ज़रिये अंग्रेज़ी सीखी, अब माशाअल्लाह इतनी सयानी हो चुकी थी कि उर्दू शेरों का सही मतलब समझकर शरमाने के क़ाबिल हो गयी। सीज़र भी धीरी-धीरे परिवार का एक वृद्ध सदस्य बन गया —— इस लिहाज़ से कि अब कोई उसका नोटिस नहीं लेता था। हमारे देखते-देखते वह बूढ़ा हो गया। और साथ ही साथ दिल में उसके लिए मैत्री व सहयात्री होने का एक भाव, सहानुभूति व सहभागिता का एक सम्बन्ध पैदा हो चला कि हमने एक दूसरे को बूढ़ा होते देखा था। एक साथ समय से हार मानी थी।

आज उसकी एक-एक बात याद आ रही है। जवान था तो राह चलतों का पंजे झाड़कर ऐसा पीछा करता कि वे घिघियाकर सबसे क़रीबी घर में घुस जाते और बेआबरू होकर निकाले जाते। वह ताक में रहता और निकलते ही उनके मुँह और गर्दन को हर दफ़ा नए अंदाज़ से यूँ भंभोड़ता मानो जानवर नहीं किसी अंग्रेज़ी फ़िल्म का लालची हीरो है (ये मिर्ज़ा के शब्द हैं ——कहते हैं अंग्रेज़ी फ़िल्मों में लोग यूँ प्यार करते हैं जैसी तुख़्मी (बीजू) आम चूस रहे हैं।) अभी तीन साल पहले उसे देखकर पड़ोसियों का चुल्लुओं ख़ून सूखता था। मगर अब इतना जर्जर हो गया था कि दिन भर किसी मुर्शिद-ए-काहिल[1] की तरह ध्यान में पड़ा रहता। बहुत हुआ तो वहीं से लेटे-लेटे दुम हिलाकर स्नेह-प्रदर्शन कर दिया। अलबत्ता छोटे बच्चों को, चाहे वे घर के हों या पास पड़ोस के, उसने कभी निराश नहीं किया। और ऐसा कभी नहीं हुआ कि कोई बच्चा उसे आवाज़ देकर गेंद फेंके और वह गूदा भरी नली छोड़-छाड़, गेंद अपने मुँह में रखकर वापस न लाये। इस मामले में उसे बच्चों की दिलजोई व दिलदारी इस हद तक प्रिय थी कि कई दफ़ा फ़ुटबाल तक मुँह में रखकर लाने की कोशिश की।

---

[1] *'मुर्शिद-ए-कामिल' अर्थात सिद्ध-गुरु की पैरोडी है जिससे इसका अर्थ 'सुस्त-गुरु' हो गया। (अनु.)*

सारे अंग धीरे-धीरे शिथिल हो रहे थे। सारी तुन-फुन ग़ायब, ग़ुर्राहट ख़त्म। मिर्ज़ा के शब्दों में उसका बुढ़ापा शबाब पर था। किसी-किसी दिन तीसरे पहर तक बोगनविलिया की छाँव में वही सनसनीख़ेज़ उर्दू अख़बार ओढ़े ऊंघता रहता, जिसमें नौकर सुबह क़ीमा बंधवाकर लाया था। चाँदनी और मादाओं की मस्त महक से अब उसके रक्त में ज्वार-भाटा नहीं आता था। कहाँ तो यह आलम था कि "गरमी" पर आता तो शाम से ही ज़ंजीर तुड़ाकर आदमक़द दीवार फांद जाता, और फ़जिर (भोर) की अज़ान के समय सफल व प्रफुल्ल लौटता। या अब इस काम-कुशल वृद्ध का यह हाल हो गया था कि गरमाई हुई मादा और हड्डी एक साथ नज़र आ जाएँ तो हड्डी पर ही झपटता था और जब उस हड्डी को पपोलते-पपोलते उसके बूढ़े जबड़े दुखने लगते तो उसे सुर्ख़ बोगनविलिया के नीचे दफ़न करके वज़ू के लोटे में मुँह डालकर पानी पीने चला जाता। विश्वास नहीं होता था कि यह वही सीज़र है जिसके जबड़े की मुहर मोहल्ले के हर तीसरे आदमी की पिंडली पर आज तक गवाही दे रही है कि '*अब जिस जगह कि दाग़ है याँ आगे दर्द था*।'

वही दुम जो एक ज़माने में किसी के बक़ौल प्रश्न-चिन्ह की तरह खड़ी रहती थी, अब मुफ़लिस की मूँछ की तरह लटकने लगी। उसके हमउम्र एक-एक करके वो गलियाँ सूनी कर गए, जहाँ से रातों को अनदेखे भेद भरे जिस्मों के बुलावे आते थे। वह तन्हा रह गया। बिल्कुल तन्हा व उदास। नई पौध के मुँह-ज़ोर कुत्तों के साथ उठना बैठना तो दरकिनार वह उनके नवदौलतिये मालिकों पर भौंकना भी अपनी शान के ख़िलाफ़ समझता था। लेकिन जिस दिन से माताहारी की जवान पठोर बेटी क्लियोपैट्रा भरी दोपहरी में एक हलवाई के बेनाम कुत्ते के साथ भागी, वह हफ़्तों अपनी प्रजाति की आवाज़ को तरसने लगा। जब तन्हाई से बहुत जी घबराने लगता तो रेडियो के पास आकर बैठ जाता और पक्के गाने सुनकर बहुत ख़ुश होता।

शरीर के साथ-साथ नज़र भी इतनी मोटी हो गयी थी कि कभी प्रोफ़ेसर क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस उजले कपड़े पहनकर आ जाते तो उन्हें अजनबी समझकर भौंकने लगता। अलबत्ता श्रवण-शक्ति में अंतर नहीं आया था। साफ़ मालूम होता था कि वह अटकल से गेंद का पीछा करता है और उसके टप्पा खाने से उसकी दिशा और स्थान का अनुमान कर लेता है। एक दिन शाम को अच्छा-ख़ासा बोगनविलिया के नीचे अपना ख़ास आसन मारे (दायीं आँख जो बचपन से सुर्ख़ रहती थी, आधी बंद किये, बायें पंजे पर थूथनी रखे) बैठा था कि एक नीली रिबन वाली बच्ची ने "शू!" कहकर सड़क पर पिंग-पांग की गेंद फेंकी। वह आवाज़ की सीध पर लपका। मगर जैसे ही गेंद मुँह में पकड़कर तेज़ी से पलटा, एक कार के ब्रेक लगने की हृदय-विदारक आवाज़ सुनाई दी।

बच्चे चीख़ते हुए दौड़े। सड़क पर दूर तक टायरों के घिसटने से दो काली पट्टियाँ बन गयीं। कार एक धचके के साथ रुकी और अपनी स्प्रिंगों पर दो तीन हिचकोले खाकर ग़ुर्राती हुई तेज़ी से पहले ही मोड़ पर मुड़ गयी। मगर सीज़र बीच रास्ते में ही रह गया। उसका पिछला धड़ कार का पूरा भार सहार चुका था। मुँह से ख़ून जारी था। और पास ही गेंद पड़ी थी जो अब सफ़ेद नहीं रही थी।

सबने मिलकर उसे उठाया और फाटक के पास बोगनविलिया के नीचे लिटा दिया। लगता था धमनियों के मुँह खुल गए हैं। और उसकी ज़िंदगी दिल की हर धड़कन के साथ रिस रही है। धड़कन-धड़कन,

बूँद-बूँद, साँस-साँस। हर एक उसे छू-छूकर उंगलियों की पोरों से दिल की धड़कन सुन रहा था —— वह धड़कन जो दूसरी धड़कन तक एक नया जन्म, एक नयी योनि प्रदान करती है। किस जी से कहूँ कि उसका दाना-पानी उठ चुका था और वह विदा हो रहा था। उस साहस, उस हौसले, उस शान्ति के साथ जो सिर्फ़ जानवरों का मुक़द्दर है। बग़ैर कराहे, बग़ैर तड़पे, बग़ैर डरे या निराश हुए। बस बेनूर नज़रें जमाये देखे चला जा रहा था। बारी-बारी सब ने उसको चुमकारा। सिर पर हाथ रखते ही वह आँखें झुका लेता था, और यह याद करके सबकी आँखें भर आयीं कि उसकी ज़िंदगी में आज पहला मौक़ा था कि सिर पर हाथ फिरवाते समय वह जवाब में अपनी रेशम जैसी मुलायम दुम नहीं हिला सकता था। आज उसके नथुनों में एक अजनबी ख़ून की गंध घुसी जा रही थी। कोई आध घंटा गुज़रा होगा कि चार-पाँच कौवे ऊपर मंडलाने लगे और धीरे-धीरे इतने नीचे उतर आये कि उनके मनहूस साए उस पर पड़ने लगे। कुछ देर बाद अहाते की दीवार पर आ बैठे और शोर मचाने लगे। सीज़र ने एक नज़र उठाकर उन्हें देखा। एक क्षण के लिए उसके नथुने फड़क उठे। फिर उसने अपनी आँखें झुका लीं। हमसे न देखा गया। उसका रक्तरंजित मुँह खोलकर सोने की गोलियों की एक शीशी हलक़ में उलट दी और कॉलर उतार दिया।

थोड़ी देर बाद वह अपने प्यार करने वालों की धुंधलाती सूरतें देखता-देखता हमेशा के लिए सो गया!

मार्च के चढ़ते चाँद की भीगी-भीगी रौशनी में जब बच्चों ने मिलकर उसकी प्यारी बोगनविलिया के नीचे धरती की धरोहर धरती को सौंपने के लिए गहरा सा गड्ढा खोदा तो छोटी-बड़ी अनगिनत हड्डियाँ निकलीं, जिन्हें वह शायद दफ़न करके भूल गया था। दूर-दूर तक बोगनविलिया की लम्बी-लम्बी उंगलियों जैसी जड़ें अपना रास्ता टटोलती हुई धरती के गुनगुने सीने में उतरती चली गयी थीं और उसका रस चूस-चूसकर शाखाओं के सिरों पर दहकते हुए फूलों तक पहुँचा रही थीं। मगर सूखी प्यासी जड़ों को आज सीज़र के लहू ने उन फूलों से भी ज़्यादा सुर्ख़ कर दिया होगा जो बच्चों ने क़ब्र का मुँह अपनी स्लेटों और तख़्तियों से बंद करके ऊपर बिखेर दिए थे। अंत में नीली रिबन वाली बच्ची ने अपने जन्मदिन की मोमबत्तियाँ सिरहाने रौशन कर दीं। उनकी उदास रौशनी में बच्चों के मैले गालों पर आँसुओं की नमकीन उजली लकीरें साफ़ चमक रही थीं।

कई महीने बीत गए। पतझड़ के बाद बोगनविलिया फिर अंगारे की तरह दहक रही है। मगर बच्चे आज भी उस जगह किसी आदमी को पावँ नहीं रखने देते कि वहाँ हमारा एक साथी सो रहा है।

ख़ाकम बदहन

(अक्तूबर 1962)

अनुवादक : डॉ. आफ़ताब अहमद

व्याख्याता, हिंदी-उर्दू, कोलंबिया विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क